**प्रथम मंत्र**

*ॐ ईशावास्यम्‍ इदं सर्वं यत्‍ किं च जगत्यां जगत्‍ ।*

*तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्य स्विद्‍ धनम्‍ ॥१॥*

*जीवन एक समरूप, समांगी जैविक समग्रता है। उसके भिन्न भाग नहीं हैं। जीवन में लय है, गतिविधि है। प्रत्येक गतिविधि के साथ निस्तब्धता, गतिहीनता अंतर्भूत है, उसमें समाई हुई है। चूँकि जीवन एकात्मता है, उसके सारतत्व का आनंद उठाओ। लेकिन असार, अनावश्यक, अतिरिक्त अथवा गौण का त्याग कर दो। जिस वजह से दिव्यता ससीम कर दी गई है उसके प्रति की आपकी आसक्ति हटा दो।*

आगे बढने से पहले यह स्मरण रखना ठीक होगा कि यहाँ विमला कुछ पढा नहीं रही है। ईशावास्य उपनिषद जो भी बताना चाह रहा है, केवल वही, विमला आप तक पहुँचा रही है। आज का विज्ञान कहां है और आज आप अपने जीवन से उस शिक्षा परस्पर संबंध कैसे लगाएँ, यह बता रही है। यह केवल राज-योग के अभ्यास में आपको सहायक हो, इस हेतु से है। तो यह विमला से संवाद नहीं है। विमला यहाँ बैढती है किंतु यह विमला का व्याख्यान नहीं है। ईशवास्य उपनिषद जो कह रहा है वही विमला पढा रही है, वही आपको समझाने का यत्न कर रही है।

इसीवजह से मैं ने लोगों से कहा कि आपको इसमें रूचि नहीं लगेगी। यह एक अभ्यास वर्ग है। उपनिषद्‍ में जो कहा गया है उसका हम अभ्यास कर रहे हैं।

*ईशावास्यम्‍ इदं सर्वं यत्‍ किं च जगत्यां जगत्‍।* उपनिषद्‍ के प्रथम मंत्र की पहिली पंक्ति कहती है कि सभी कुछ उस सत्य से, दिव्यत्व से, परम-प्रज्ञासे व्याप्त है। जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति में प्रज्ञा समाई हुई है, अंतर्भूत है। किसी घोडे में, हाथी में, चिडिया में उस प्रज्ञाका सापेक्षिक स्तर भले ही भिन्न हो, लेकिन जीवन की कोई भी अभिव्यक्ति अंधी अथवा मूक नहीं है।

जैसे शांति पाठ में उपनिषद्‍ हमें बताने का प्रयास कर रहा है कि अव्यक्त समग्र है और व्यक्त भी समग्र ही है। समग्रता एक ऐसा विशिष्ट गुण है जो अभिव्यक्ति की विविधता से प्रभावित नहीं होता है। व्यक्त में विविध प्रकार की अभिव्यक्ति है। ग्रह, सितारे, सौर-मंडल, पृथ्वी, पेड, पंछी, प्राणि इ. ये सभी विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। लेकिन वे विविध अभिव्यक्तियाँ टुकडे अथवा भाग नहीं हैं, वे मिलकर समग्र नहीं बनाते। वे अभिव्यक्ति हैं, प्रकाशन हैं, अभिव्यंजना हैं। इसका क्या मतलब हुआ? इसका मतलब हुआ कि प्रत्येक अभिव्यक्ति में समग्रता की गुणवत्ता है, समग्रता का विशेष गुण है। कार के गियर में कार की गुणवत्ता नहीं है। उनमें स्वयंभूत गतिविधि या हलचल नहीं है। समग्रता की विशिष्ट गुणवत्ता जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति में समाई हुई है। जीवन समग्रता है।

क्या आप समग्रता तथा समग्रता की अभिव्यक्ति का आपसी संबंध जानते हैं? प्रत्येक अभिव्यक्ति में समग्रता की विशिष्ट गुणवत्ता समाई हुई है किंतु संकलित अथवा एकत्रित के भाग में, टुकडे में, एकत्रित की गुणवत्ता समाई हुई नहीं होती। प्रत्येक अभिव्यक्ति समग्रता की विशिष्ट गुणवत्ता धारण किये हुए है, वह अंतर्भूत है। लेकिन संकलित के किसी भाग में समूचे संकलित का गुण विशेष नहीं है।

वेदों को बहुत सही तथा अचूक तरीके से समझने की ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूँगी। हम ‘समग्र’ तथा ‘समग्रता’ ये शब्द उपयोग में ला रहे हैं। जीवन एक समग्रता है। परम प्रज्ञा, जीवन का सारतत्व - एक समग्रता(wholeness) है। हम समग्र और समग्रता तथा ‘संकलित’ और ‘सकलता’ (totality) में अंतर समझ लेते हैं वरना हम उलझ जाएँगे, समझने में गडबड करेंगे। जब आप १ से १०० तक की गिनती करते हैं आप के लिये १०० यह इकठ्ठा अंक है, एक से १०० तक के अंक मिलकर, संकलित कर, १०० होते हैं। वह सकलता हुई। १०+९० = १००, दस और नब्बे मिलकर १०० होते हैं। आप एक कार या साइकिल बनाते हैं। आपको क्या चाहिये है इसकी कल्पना होती है। आप अपनी आवश्यकतानुसार भिन्न भिन्न पुर्जे एकत्रित करते हैं, संकलित करते हैं। आपकी जो भी पूर्व कल्पना होती है उस अनुसार, आप पुर्जे एकत्रित कर, कार या साइकिल बना लेते हैं। अगर उसमें से आप एक भी पुर्जा या भाग अलग करते हैं तो कार नहीं चलती है। सकलता या संकलितता सभी भागों को या पुर्जों को एकत्रित करना है, संकलित करना है। इसे विभाजित किया कर सकते हैं। पुर्जों को अलग कर सकते हैं। लेकिन समग्रता कोई संकलित की हुई नहीं है, इसे विभाजित नहीं किया जा सकता। समग्रता अखंड है, विभाजित नहीं की जा सकती। आप समंदर, पहाडीयाँ तथा वनों को इकठ्ठा कर समग्रता नहीं पा सकते। वे समग्रता के भाग नहीं हैं, वास्तव के पुर्जे नहीं हैं, वे तो समग्रता की अभिव्यक्ति हैं। वे तो समग्रता का, वास्तव का प्रकटीकरण है। सागर की एक बूँद सागर का भाग नहीं है, उस बूँद में सागर की समग्रता, सागर (जल?)की समग्रता की गुणवत्ता समाई हुई है।

हमें एकत्रितता तथा समग्रता में अंतर समझ लेना होगा। ‘एकत्रीकरण या संकलितता’ जो भागों में बँट सकती है, जिसमें और कुछ मिलाया जा सकता है, घटाया जा सकता है, जो विभिन्नता होने देती है और ‘समग्रता’ जैविक है, चेतन है। उसमें हम ऐसा नहीं कह सकते हैं कि मुझे आँखें यहाँ नहीं पसंद, जाँघ पर, पैरों पर होनी चाहिये। आप वह बदल नहीं सकते। शरीर की जैविक समग्रता में पारस्परिक संबंध है और यह संबंध ही समग्रता की अभिव्यक्ति है। मानवीय शरीर कोई रोबोट जैसा नहीं है कि जो कुछ पुर्जों को संकलित कर बनाया है और हम उसकी रचना बदल सकते हैं।

जीवन एक समग्रता है, कृपया इस ओर ध्यान दीजिये। जीवन एक एकरूप, समांगी जैविक समग्रता है। इसके खण्ड अथवा हिस्से, पुर्जे नहीं हैं। पृथ्वी, ब्रह्माण्ड का खण्ड अथवा हिस्सा नहीं है। सूरज, चाँद तथा सितारे जीवन की समग्रता के हिस्से नहीं हैं। वे अभिव्यक्ति हैं। तो ‘समग्रता’ तथा ‘संकलितता, एकत्रितता’ में अंतर है।

जीवन कोई किसी उद्देश्य से एकत्रितता को समेकित किया हुआ नहीं है।(?) इसके कोई खण्ड नहीं है, यह अखण्ड है, यह जैविक है और इसमें परस्पर संबंध है और यह संबंध, समग्रता की अभिव्यक्ति है।

आगे यह मंत्र हमें बतलाता है कि उसमें गतिविधि है, हलचल है। *‘जगत’* यह शब्द गतिविधि या हलचल की ओर संकेत करता है। यह जो गति है उसीमें निःश्चलता, निःस्तब्धता समाई हुई है। प्रत्येक अभिव्यक्ति में समग्रता की गुणवत्ता तथा प्रत्येक हलचल में निःश्चलता समाई हुई है। आप गति को निःस्तब्धता से पृथक नहीं कर सकते। आपके प्रत्येक शब्द में मौन समाया हुआ है। हरेक गतिविधि के साथ आंतरिक निःस्तब्धता है ही।

*तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्य स्विद्‍ धनम्‍ ।* यह मानते हुए कि हमने जीवन की एकात्मता को खोज लिया है, जीवन के पावित्र्य को उसके अक्षयता को समझ लिया है - हम मंत्र के साथ आगे बढ रहे हैं। तो समझो हमने एकात्मता जान ली है, पवित्रता जान ली है तो अब इस एकात्मता की समझ का हम क्या करेंगे? मंत्र कहता है *“तेन त्यक्तेन भुंजिथाः” तेन त्यक्तेन*  का मतलब है - त्याग और *‘भुंजीथाः’* का मतलब है - आनन्द उठाना। किस बात का आनन्द उठाते हैं आप? आप सार-तत्व का आनन्द उठाते हैं। किसका त्याग करते हैं? जो अ-सार है, गौण है - उसका त्याग करते हैं।

आप अपनी आसक्ति का, किसी चीज या रंग, किसी रूप अथवा किसी विशेष वस्तु की धुन का – जिसमें भी दिव्यत्व ससीम है - उसका त्याग करते हैं। आप संस्कारिता का, ससीमता का त्याग करते हैं। काल तथा स्थान से जो जुनून है, उसका जो बंधन है, धुन है उसका त्याग करते हैं।

चूँकि काल तथा स्थान दिव्यत्व से प्रकट होते हैं, निर्गत होते हैं - वे गौण है, दूसरे क्रम के हैं और उनका त्याग किया जा सकता है। मैं आपकी आधुनिक भाषा में रखती हूँ - समय, काल वास्तविक नहीं है, मानसिक काल में कुछ भी तथ्यात्मक आशय नहीं है। आज के जमाने में यह बात इस तरह से रखी जाती हैं। ऋषियों ने हजारों वर्ष पहिले कहा कि, विस्फोट की, अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में, उद्भव की प्रक्रिया में दिव्यत्व ने - काल तथा स्थान का रूप ले लिया, काल तथा स्थान प्रकाशित हुए। काल तथा स्थान, रूप तथा आकार, रंग इत्यादि को, इन सब गौण चीजों को - महत्व न दें, उनका त्याग कर दें। सार-तत्व का आनन्द उठाएँ।

शंकराचार्य से लेकर आज के संत विनोबा तक किसीने भी यह अर्थ नहीं लगाया है। उपनिषद्‍ के सैकडों विवेचन, व्याख्याएँ हो चुकी हैं। जो भी हो, मुझे यह मंत्र ऐसा ही विवेचन कहता है। मैं आपको वही अर्थ बता रही हूँ। किसी अन्य व्याख्याकार ने दिया हुआ या किसी पुस्तक में बताया हुआ अर्थ मैं आपको नहीं बता रही हूँ। यह आपके और मेरे बीच का संवाद है, जो भी मुझे समझा है वही मैं आपको बतलाऊँगी।

संत विनोबा जैसे लोगों ने “*तेन त्यक्तेन भुंजीथाः”* का अर्थ कुछ इस प्रकार लगाया है –जो भी आपने कमाया है अथवा जो भी आपको उपलब्ध हुआ है उसका त्याग का भाव रखते हुए उपभोग करो, आनन्द उठाओ। उन्होंने काफी अलग तरीके से व्याख्या की है; और *“तेन त्यक्तेन भुंजीथाः”*  का अर्थ मुझे कुछ ऐसे लगता है - काल तथा स्थान जो कि गौण है, उसका - त्याग करना है।

**\_\_\_\_\_-ईशावस्य उपनिषद्‍ as transcribed by KGS**

हम सब जो आज यहाँ इकठ्ठा हुए हैं वे केवल रोझाना की ही वजह से हुए हैं। मैं अगस्त में इटली में थी तब करीब आठ दस योग शिक्षक मुझसे मिले। रोझाना इटालियन योग फाउंडेशन की प्रेसिडंट हैं। वे कई वर्षों से योगाभ्यास सिखा रहे हैं और अब वे याज्ञवल्क्य योग, याज्ञवल्क्य स्मृति के अभ्यास की देहलीज तक आ पहुँचे हैं। इसी बात की हम चर्चा कर रहे थे तब मैंने कहा कि अगर किसी को याज्ञ्यवल्क्य समझना हो तो उपनिषदों का संदर्भ देखना पडेगा। उपनिषदों की समूची शिक्षा का सारतत्व एक छोटेसे उपनिषद्‍ में, ईशावास्य उपनिषद्‍ में समाया हुआ है। इसपर रोझाना ने कहा, “क्या आप उपनिषद्‍ के लिये हमारा अभ्यास वर्ग लेंगी?” इसपर मैं ने कहा, “ यहाँ नहीं, शायद भारत में हो सकेगा।” रोझाना ने स्वेच्छासे अपने समूह के साथ भारत आने का प्रस्ताव रखा। एक और सात लोगों का समूह बॉस्टन से आने वाला था, लेकिन दुर्भाग्यवश किसी कठिनाई की वजह से वे लोग पहुँच न सके। इटली से आनेवाले सभी मित्र अभी तक यहाँ पहुँचे नहीं हैं। इसलिये उपनिषद्‍-वर्ग शायद दोपहर के सत्र में शुरू होगा। दोपहर तक उनका इंतजार करते हैं। लेकिन मैं बहुत आनंदित हूँ कि रोझाना यहाँ आ सकी। और मुझे अत्यंत आनंद है कि एलिसन आई है। मुझे नही लगता कि वे उपनिषद्‍-वर्ग के लिये आई हैं, वे तो अपने आप से ही आई हैं। शायद आप में से कोई यह नहीं जानते होंगे कि वे ताइची में माहीर हैं । ताइची की कसरत वे अति सुंदर तरीके से सिखाती हैं।

रोझाना मेरे भाषणों को इटॅलियन में भाषांतरित किया करती थी। कुछ दिनों के लिये मैं और कैसर उनके अत्यंत सुंदर तथा शांत घर में महमान बन कर रहे थे। उनका घर रोम के बाहरी इलाके में था। अत्यंत शांत परिसर था। धन्यवाद रोझाना। हम एक सप्ताह साथ रहेंगे। (आपको २८ तारीख को जाना है।) स्वाभाविकही यहाँ जो अभ्यास-वर्ग लिये जानेवाले हैं वे भारतियेतर लोगों के लिये हैं जिन्होंने संस्कृत भाषा तथा भारतीय तत्वज्ञान का विस्तार में अभ्यास किया हुआ नहीं है। अगर किसी भी उपनिषद्‍ के अभ्यास-वर्ग मुझे भारतियों के लिये लेना होते तो विषय को अलग तरीके से रखा जाता। तो मेरे भारतीय मित्र यह जान लें कि इन अभ्यास वर्गों का स्वरूप भिन्न रहेगा। ये अभ्यास वर्ग योग के अभ्यास से संदर्भ रखेंगे, योग शिक्षकों के लिये होंगे। मानव जाति कई लाखों करोडों वर्षों से जिन प्रश्नों का सामना करती आ रही है जैसे : यह सृजन क्या है हमारे आसपास जो हम यह विश्व देखते हैं वह क्या है? इस सृजन का स्रोत क्या है, सृजन के स्रोत से इस अभिव्यक्त जगत का कैसे संबंध है? मानव समूची मानव जाति यहाँ क्या कर रही है? इस अभिव्यक्त जगत तथा उसके स्रोत के संबंध में मानव जाति की, मानव की, भूमिका क्या है? इस अभिव्यक्त जगत से,इस विश्व से तथा विश्व के अव्यक्त स्रोत से - जिसे भगवान कहते हैं, ईश्वर कहते हैं, दिव्यत्व कहते हैं उससे - मानव कैसे नाता रखे, संबंध रखे? दरसल ये दो समस्याएँ हैं, एक नहीं। इस सृजन का स्वरूप, सृजन का स्रोत –एक। मानव जाति की भूमिका तथा स्रोत जो कि अवयक्त है उससे - कैसे संबंध रखा जाए।

तो मेरे भारतियेतर मित्रों, आप एक ऐसे देश में आये हैं जो कि अति प्राचीन है। आप आबु की पहाडियों पर आये हैं। ये पहाडियाँ हिमालय से भी बहुत अधिक पुरानी हैं। ये ज्वालामुखी की पर्वत-श्रेणियाँ भारत के मध्य भाग से होती हुई युरोप के मध्य-पूर्व तथा कुछ पूर्व में दक्षिण-पूर्व अशियाई देशों तक फैली हुई हैं। यह जो माऊंट आबू आप आज देख रहे हैं, ये जो आसपास के लोग देख रहे हैं ये सभी अब भारतीय संस्कृती के नहीं रहे। इन लोगों का रहन-सहन अब एक भारतीय तथा भारतियेतर रहने के तरीके का अप्रिय, भद्दा मिश्रण है। यह पूर्व तथा पश्चिम का मिलाप नहीं है, किंतु एक अप्रिय, भद्दा संकरित मिश्रण है। और जिस आबु में, जिस गाँव में, मैं पचीस वर्ष पूर्व रहने के लिये आई थी वह अब नहीं बचा। करीब करीब पूरा जंगल गत पचीस वर्षों में काट दिया गया है। बडी बडी इमारतें, होटल आ गये हैं। जब १९६३ में, मैं सर्व प्रथम यहाँ आई थी तो इनमें से कुछ भी नहीं था। राजस्थान सरकार वैसे ही भारत की केंद्रीय सरकार जिन्हें आय की सर्वाधिक लालसा रहती है, उन्होंने यहाँ १९६८ में दारू की दुकानों को दाखिल करवा दिया। गुजरात में दारुबंदी का नियम था तो वहाँ के लोगों को आकर्षित करना चाहते थे। तो गुजराथ के लोग शराब की वजह से यहाँ आ जाते हैं। शुरू में यहाँ एक ही शराब की दुकान थी। अब तो हर होटल में एक शराब का बार है और बियर को तो खाने पीने की सूचि मे शामिल कर दिया है।

तो अब यह एक भद्दी जगह बन चुकी है। जिस जगह मैं पचीस वर्ष पहले आकर रही थी वह आप देख नहीं पाएंगे। इतनी गंदगी तथा भद्देपन के बावजूद भी यहाँ की जमीन, आसमान, अवकाश की रिक्तता में प्राचीन ऋषिमुनि जो यहाँ रह चुके हैं, उनके कंपन अभी भी समाये हुए हैं। हिमालय से भी प्राचीन यह जगह, इस जगह रहनेवाले ऋषिमुनी तथा सधुओं के कारण जानी जाती थी।

तो जो माऊंट आबु का तथ्य आप देख रहे हैं वही करीब करीब पूरे भारत के बारे में भी वैसा ही है। आप भारत के किसी भी क्षेत्र में जाएँ, विशेष कर उत्तर भारत में जिसे आपने आपके सपनों का आध्यात्मिक क्षेत्र, धर्म अथवा प्राचीन संस्कृति का क्षेत्र माना होगा, जिसकी आपने कल्पना की होगी वह नहीं मिलेगा। भारत, पश्चिम देशों की नकल करने की जल्दि में है। और ऐसा करने में अत्यंत असभ्य, अश्लिल तरीके से नकल उतारी जा रही है।

इतना सब होते हुए भी जब आप भारत में और आबु में भी जब लोगों से मिलेंगे तो जिस तरीके से वे बात करते हैं, इतनी गरीबी होते हुए भी जो आदरातिथ्य का भाव दिखता है, वह सरलता, खुलापन, मैत्रि भाव भी दिखेगा और यही उस प्राचीन सभ्यता की विशेषताएँ हैं, लक्षण हैं।

आप इस कमरे में आकर हर दिन कुछ घंटे बिताएँगे तब आप एक ऐसी व्य्कि के साथ रहेंगे जिसका जन्म भारत में हुआ है, उसकी संस्कृति भारतीय है, वह विश्व की नगरिक है और ब्रह्माण्डीय चेतना रखती है। तो आप इस कमरे में मेरे साथ प्राचीन भारत में हैं। उस प्राचीन भारत की विरासत से, उस आध्यात्मिक विरासत से, आपका परिचय करवाने में मुझे अत्यंत आनंद आयेगा। संस्कृति से मतलब है आपका रहन-सहन, आपका खाने पीने का तरीका, आपका पहराव, भाषा, मानव तथा मानवेतर प्राणियों से संबंध का तरीका अथवा ढाँचा। यह सब संस्कृति के अंतर्गत आता है।

इसी वजह से मैंने कहा कि यहाँ वक्ता भारतीय संस्कृति का है।( वक्ता की संस्कृति भारतीय है।) आध्यात्म संस्कृति को लाँघ जाता है और हम आध्यात्मिक विरासत के संदर्भ में बाते करेंगे।

**वेद**

तो अब हम वेदों से शुरुआत करते है। शायद मानवीय साहित्य में सर्वप्रथम लिखित शब्द हैं वेद, जो कि चार या पाँच हैं। अत्यंत प्राचीन पुस्तकें, सबसे प्राचीन शब्द ये वेद - ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद इत्यादि ये सभी मानवीय प्रतिभा की विस्मयकारी अभिव्यक्ति है। सत्य की मनो कायिक स्तर पर प्रतीत, व्यक्तिगत अनुभूति की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। और सत्य को मनोकायिक स्तरपर अनुभूत करने वालों के जीवन में जो रूपांतरण महसूस किया गया, उस रूपांतरण का बयान है।

तो वेद कोई तत्वज्ञान नहीं है। वे कोई विचार प्रणाली नहीं हैं। वे कोई तात्विक विचार धारा नहीं हैं। वे वैयक्तिक अनुभूति तथा समझ की काव्यात्मक अभिव्य्क्ति हैं। शायद वे भिन्न भिन्न ऋषि मुनियों ने, संतों ने किसी युग में लिखे हैं। अनुभूति स्वाभाविक ही प्रकृति से, प्रकृति में समाई हुई, उसमें आवरित उर्जा से आये हुए संबंध का निष्पन्न होता है, चेतना के विभिन्न स्तरों पर घटित संबंधों का फलित होता है। ऍलिसन के जीवन में घटित अनुभूति निश्चित ही रोझाना या रॉबर्टो के जीवन में घटित अनुभूति से अलग होगी। उन लोगों ने उस अनुभूति को कोई निश्चित रूप देकर उसका तत्वज्ञान अथवा विचारधारा नहीं बनाई। ऐसा बाद में भारतीय तत्वज्ञान की छः प्रणालियाँ जैसे सांख्य, न्याय, वैशेषिक, मिमांसा,वेदांत इ. बना कर किया गया। वह बाद की बात है।

लेकिन वेदों का प्रारंभिक युग तो जीवन प्रेमियों का, प्रकृति के प्रेमियों का, पदार्थ अथवा मानवी मन से लेकर सत्य तक सभी चीजों के प्रेमियों का युग है। ऊर्जा से प्रभारित, व्यक्त तथा अव्यक्त का संबंध जताते हुए उस आपसी संबंध की प्रक्रिया में जो भी अनुभूत हुआ उसे अभिव्यक्त करने वालों का युग था। मेरे लिये वेद तो एक आनन्ददायी काव्य हैं। अत्यंत विस्मयकारी काव्य है।

वेदों में जिस संस्कृत भाषा का उपयोग किया गया है वह आज की संस्कृत जैसी नहीं है। वेदिक संस्कृत ‘आर्श संस्कृत’ कहलाती थी। आर्श यह शब्द ऋषि से आता है। ऋषियों द्वारा उपयोग में लाई गई संस्कृत भाषा। उस भाषा को आप व्याकरण तथा वाक्य-विन्यास से अथवा भाषा की अन्य किसी भी नियमावली से आँक नहीं सकते। आप उस प्राचीन संस्कृत को कदापि आँक नहीं सकते। वह अपने आप एक भिन्न विश्व है।

हम भारतीय भी वेदों का अभ्यास नहीं कर पाते हैं, उन तक नहीं पहुँच पाते हैं। और इसका कारण भी मैं आपको बतलाती हूँ। तत्वज्ञान की किसी विचार धारा का, सांख्य जो कि एक यथाक्रम, व्यवस्थित विचार धारा है उसका अभ्यास करना सरल है। पतंजली मुनी द्वारा दिये गये हठ-योग का, योग-सूत्रों का अभ्यास करना सरल है। उसमें आप एक सूत्र लेते हैं उसकी व्याख्या करते हैं, उसका अपनी भाषा में अनुवाद करते हैं। यह सब सुव्यवस्थित विचारधारा का, तार्किक विचार का बौद्धिक स्तर पर एकत्री करण हो गया। वेदों का अभ्यास तभी हो सकता है जब आप में वह जिज्ञासा है - “इस सृजन का स्वरूप क्या है? हम अपने चारो ओर जो यह जीवन देख रहे हैं उसके मायने क्या है? इस सबका स्रोत क्या है? यह कैसे सृजित हुआ? इस सबका सृजन क्यों हुआ और इस सबके बीच, मैं यहाँ क्या कर रही हूँ? मैं जीवन के सार तत्व से तथा जीवन की अभिव्यक्ति से भी, कैसे नाता रखूँ, कैसे संबंध रखूँ?” जब तक ऐसी जिज्ञासा नहीं है मुझे लगता है वेदों का पठन निरर्थक है। क्योंकि जब आप वेदों के शब्दों को स्पर्श करते हैं तब आप सत्य के एक अत्यंत प्रमाणिक जिज्ञासू के अनुभूति को स्पर्श करते हैं। जैसे एक माँ जब अपने नन्हें बच्चे के साथ होती है, उसके प्रति कुछ कहती है, या फिर कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका के प्रति अपना प्रेम अभिव्यक्त करता है। प्रेम के शब्द तर्क से सीमित नहीं होते हैं। वे ना तो तर्क संगत होते हैं न ही तर्क विरोधी। वह तो इन सब चीजों के ऊपर/परे की बात है। तो, वेद जब कुछ कहते हैं तो वे केवल परम सत्य की व्यक्तिगत अनुभूति और उसकी कव्यात्मक अभिव्यक्ति ही बात करते है। अगर यह समझ गया है कि वेद कोई विशिष्ठ तत्वज्ञान प्रणाली अथवा तत्व विचार नहीं है बल्कि वे संवेदनशीलता की उस ऊँचाई की ओर इशारा करते हैं - जहाँ तक मानव पहुँच सकता है, तो क्या मैं वेदों को मानवीय अनुभूति का हिमालय कह सकती हूँ? कोई भी अनुभूति, प्रतीति आपमें कितनी संवेदनशीलता है, इस बात पर निर्भर करती है। आपकी दूसरों के साथ, जीवन के साथ, प्रकृति के साथ, पंछी पेड पौधों के साथ तथा अपने स्वयं के साथ के समन्वय की, ऐक्य की गुणवत्ता - आपकी संवेदनशीलता की गुणवत्ता पर निर्भर करती है। तो, जहाँ तक मैं वेदों को समझ पाई हूँ, वे संवेदनशीलता का उत्तुंग शिखर - एवरेस्ट हैं।

अब मोटी तौर पर वेदों में दो विभाग हैं। एक तो है व्यक्तिगत अनुभूति की अभिव्यक्ति और दूसरा है उस अनुभूति का, उस समझ का नित्य जीवन में किस तरह से समन्वय, समायोजन तथा संबंध लगाया जाय। इसे कर्मकाण्ड से संबंधित या विधिविधान के संबंधित - कर्मात्मक कहा जाता है और दूसरे को समझ के स्तर पर - ज्ञानात्मक कहा जाता है। इसप्रकार मोटे तौर पर इसका दो में विभाजन किया गया है।

**उपनिषद्‍**

हम वेदों के अंत में आने वाले उपनिषद्‍ देख रहे हैं। वेदों की अभिव्यक्ति का अंतिम चरण, जो ऐतिहासिक दॄष्टि से भी अंत में ही आया है। हम वेदों की अभिव्यक्ति के चरमबिंदु पर या शिखर पर नहीं किंतु वेदांत पर - वेदों के अंत पर - आ रहे हैं। वेदिक काल के अंतिम चरण पर जो उपनिषदों का काल है उस पर, आ रहे हैं। अब हम उपनिषद्‍ देखेंगे।

*‘उप’* का मतलब है ‘समीप’ और *‘षद्‍’* का मतलब है बैठना। शिष्य गुरू के चरणॊं में बैठता है तथा जीवंत वाणी ग्रहण करता है। प्राचीन भारतीयों का जीवंत वाणी का कागज पर लेखांकन कर, आगे की पीढियों को सौंपनें में विश्वास नहीं था। गुरू तथा शिष्य एक साथ बैठ कर वेदों का तथा उपनिषदों का अध्ययन किया जाता था। लिखे हुए शब्द अथवा पुस्तकों को वे लोग मृत शब्द मानते थे। गुरू तथा शिष्य के ऐक्य में, समन्वय में जो समझ फलित हुई वही उपनिषद्‍ कहलाया। उपनिषद्‍ इस शब्द का अर्थ अत्यंत सुंदर है। जब गुरु तथा शिष्य एक दूसरे के समीप समन्वय में जीवन के मौलिक, बुनियादी विषयों पर घटित जो संवाद फलित होता है - उप निषद्‍ - साथ रहते हुए संवाद होना।

प्राचीन शिक्षा पद्धति मृत शब्दों की नहीं वरना जीवंत शब्दों की शिक्षा पद्धति थी। विद्यार्थियों ने पुस्तक को हाथ लगाना तथा कागज पर लिखना अपेक्षित नहीं था। क्योंकि ऐसा करने से आप अपना समझा हुआ कागज को सौंप देते हैं तथा खुद भूल जाते हैं। जब तक आप कागज को सौंपते नहीं हैं तबतक वह आपमें आपकी चेतना का आशय बनकर रहता है। लेकिन जैसे ही आप लिख लेते हैं वैसे ही आपने याद रखने की जबाबदारी उस कागज पर, उस कॅसेट पर या विडियो पर छोड दी है। ऐसा करने से अपने भीतर उस समझ को समाये रखने की संवेदनशीलता कम होती जाती है। हम जिस जमाने में आज जी रहे हैं वहाँ एक ओर तो विज्ञान तथा तकनीक ने हमारा भौतिक जीवन समृद्ध कर दिया है और दूसरी ओर हमारी मानसिकता दरिद्री होती चली जा रही है। हम संवेदनशीलता में दिन-ब-दिन गरीब होते चले जा रहे हैं क्योंकि विज्ञान तथा तंत्रज्ञान ने दी हुई सुविधाओं को हमारे सभी संवेदनशीलता के साथ किये जाने वाले काम जैसे स्मृति में रखना, समय पर याद करना इत्यादि सौंप रहे हैं। सभी कुछ जैसे हिसाब करना, याद रखना इ. मशीनों द्वारा किया जाने लगा है। तो आप अपनी संवेदनशीलता खो देते हैं, स्मृति का पैनापन, समझ की अभिनवता खो देते हैं क्योंकि अब वह सब आपके लिये मृत शब्द बन गये हैं। आपकी संवेदनशीलता स्तंभित बन जाती है तथा जीवंत शब्दों के जरिये, संचरण के जरिये पाई गयी शिक्षा आपका श्वास बन जाती है। जीवंत शब्दोंमें, उनके पीछे की संचरित ऊर्जा, उन शब्दों के पीछे ज्वलंत जीवन रहता है। ऐसा सुंदर यह ‘उपनिषद्‍’ शब्द है।

अब हम ईशावास्य उपनिषद्‍’ जो की औपनिषदिक शिक्षा का सार है उसकी ओर आते हैं। आज करीब १०८ उपनिषद्‍ उपलब्ध हैं। उनमे से दस उपनिषद्‍ महत्व के माने गये हैं और उन दस उपनिषदों में इशावास्य प्रथम है। सभी उपनिषदों के नाम बता कर आपकी चेतना को उलझाने से कोई मतलब नहीं है लेकिन फिर भी मैं आपको नाम बता सकती हूँ – इश, केन, कठ, प्रश्न, मुन्डक, मन्डुक्य, तैतरीय, ऐतरेयम, छांदोग्य, बृहदारण्यक - ऐसे दस उपनिषद्‍ हैं। ये अत्यंत दिलचस्प उपनिषद्‍ हैं और अब हम प्रथम उपनिषद्‍, ईशवास्य उपनिषद्‍ की ओर मुडते हैं।

‘ईश’ शब्द व्याप्ति की ओर निर्देश करता है। आपने ईश यह शब्द आपके पातंजली योगसूत्रों में भी सुना होगा। ‘ईश्वरप्रणिधानाद्वा’ ऐसा एक सूत्र पातंजली योग सूत्रों में भी आता है। ईश्वर शब्द की उत्पत्ति ‘ईश’ - ईशते, इस मूल धातु से हुई है। ईशते, व्याप्त, सर्वव्यापी। व्याप्त से मतलब है उसके भीतर घुसना, अपने सार तत्व से पूरा भिगो देना, अपने चेतनत्व से भर देना। उसे व्याप्त कहते हैं। व्याप्त का मतलब केवल उपर से ढँकना नहीं है। केवल ऊपर से ओढ देना, अच्छादित कर देना नहीं जैसे आप चिट्ठी को लिफाफे में रख देते हैं। यह विश्व दिव्यत्व से अच्छादित नहीं है। दिव्यत्व सबमें भीत घुसा हुआ है। व्याप्त है। वह प्रत्येक अभिव्यक्ति का अस्तित्व है। व्याप्त, जिसमें व्याप्त हुआ है उसका सारतत्व हो जाना - ईश शब्द का यह अर्थ है। इस शब्द के अर्थ को हम आगे भी देखेंगे किंतु अगर हम कहते हैं ईश, ईश्वर एक तृण पाती में व्याप्त है। इसका मतलब है कि उस तृण पाती में, उसके आकार तथा रूप से वैसे ही स्थान तथा काल से सीमित, दिव्यत्व के सभी गुणधर्म आप देख सकेंगे। यह सीमित तरीके से रहेगा किंतु मौलिक ऊर्जा तत्व से व्याप्त होगा जरूर। तो ईशवास्य उपनिषद्‍ एक ऐसा उपनिषद्‍ है जो परम सत्य के सर्व व्यापी असली सारतत्व के बारे में, जिसने समूचे विश्व को व्याप्त कर रखा है उसके बारे में बताता है।

*ईशावास्यम्‍ इदं सर्वं यत्‍ किं च जगत्यां जगत्‍* । संस्कृत में *‘जगत्‍’* का मतलब होता है वह जिसमें गति है, हलचल है, जो हमेशा ही गतिमान है, जिसमें ऊर्जा है। ‘जगत्‍’ -*‘गतिशीलम्‍ जगत्‍’* वह जिसमें गति है, हलचल है, ऊर्जा है अविरत गतिशीलता है और विभिन्न तरीके से, विभिन्न अघाडियों पर सतत हलचल है।

यह उपनिषद्‍, इस विश्व में जो भी गति युक्त है, उसमे समाई हुई दिव्यता के बारे में बताता है। यही वजह है कि यह ईशावास्य उपनिषद्‍ कहलाता है। मैं केवल ‘ईशावास्य’ इस शब्द के बारे में ही कह रही हूँ। वह तत्व जो इस विश्व में जो भी दिखलाई देता है ऐसे प्रत्येक चीज में व्याप्त है, उसके बारे में ही बात कर रही हूँ। जब हम उपनिषद्‍ देखेंगे तो उसके प्रथम मंत्र को देखना होगा। आप मंत्र इस शब्द से तो वाकिफ होंगे। मंत्र एक अत्यंत सुंदर शब्द है। ‘*मननात्‍ त्रायते इति मंत्रः* ’ जिसका आप चिंतन करते हैं तो वह आपको मुक्ति में सहायक होता है। वह शब्द जो आपके आत्मसाक्षात्कार में सहायक होता है अगर आप उसके अर्थ पर चिंतन करते हैं। लोग उसके अर्थ की ओर ध्यान नहीं देते हैं। मंत्र : मनन तथा त्र, त्रायते याने जो आपकी रक्षा करता है, जो आपको सहायक होता है, जो आपके आत्मसाक्षात्कार को, मुक्ति को गति प्रदान करता है।

ईशावास्य उपनिषद्‍ में अठारह मंत्र हैं। किन्हीं प्रकाशनों में अठारह हैं और किन्हीं में सोलह। दोपहर में जब आपके सभी मित्र आ जायेंगे तब हम उनकी शुरुआत करेंगे। उसके पहिले हम शांति पाठ की ओर मुडते हैं।

ॐ – वेदों में हर कथन की शुरुआत ॐ से हुआ करती है। जिस आदि नाद से सृजन अस्तित्व में आया है उसका मानव द्वारा वैखरी में दिया गया प्रतिरूप - ॐ है। यह उस आदि नाद का मानव जाति ने किया हुआ अनुकरण है, प्रतिरूप है। इसका मतलब यह है कि विश्व हर क्षण इस नाद से कंपन पा रहा है। यह सभी जगह अभिव्यक्त नहीं हुआ है। वह जल में, आकाश के अवकाश में, पेडपौधों द्वारा, पंछियों में, प्राणियों में अभिव्यक्त हुआ है। यह बिना किसी आहत के उत्पन्न हुआ आदि नाद है। यहाँ जो मैं अभी बोल रही हूँ, जो शब्दों का उच्चारण कर रही हूँ वह जिव्हा दात तथा होंठ एकत्रित मिलकर उनके घर्षण से ध्वनि निर्माण हो रहा है। लेकिन यह ॐ कार नाद, जो कि आदि नाद कहलाता है, वह बिना किसी आहत के निर्माण हुआ है। यह स्वयंनिर्मित संपूर्ण/समग्र नाद है। समूची मानव जाति इसका अनुकरण करने का प्रयास करती है – और कहा जाता है कि आपको अपने दातों को स्पर्श नही करना पडता, आप अपने अंतस्‍ में यह नाद उत्पन्न कर सकते हैं और सुन भी सकते हैं।

तो आरंभ होता है –

*ॐ पूर्णम्‍ अदः पूर्णम्‍ इदम्‍ पूर्णात्‍ पूर्णम्‍ उदच्यते ।*

*पूर्णस्य पूर्णम्‍ आदाय पूर्णम्‍ एव अवशिष्यते ॥*

*ॐ शान्तिः शांतिः शांतिः*

यह शक्ति का आवाहन है। *पूर्णम्‍ अदः*, पूर्णम्‍ से मतलब है समग्र, समग्रता, संपूर्णता यह अनंत है, संपूर्ण तथा अनंत है। यह क्या है? स्रोत, दिव्यत्व, आप को लगता है तो आप उसे भगवान या ईश्वर भी कह सकते हैं। जिसे आप भगवान, ईश्वर या सृजन का स्रोत कहते हैं वह अनंत है, संपूर्णता है, एकरूपता है। *पूर्णम्‍ इदम्‍*  अपने आसपास आप यह जो विश्व देख रहे हैं वह भी अनंत है। स्रोत अनंत है और सृजन भी अनंत है। सृजन की अनंतता उसीमे से आविर्भूत हुई है। इसे सरल कैसे बनाया जाय यह मैं नहीं जानती। आप व्यक्त और अव्यक्त इन शब्दों से परिचित हैं। वह जो अदृष्य है, अनाकलनीय है, जो देखा नहीं जा सकता, सूँघा नहीं जा सकता, जिसे स्पर्श नहीं कर सकते- वह अव्यक्त है। जिसे आकार नहीं, रंग नहीं रूप नहीं – जो देखा नहीं जा सकता - वह अव्यक्त कहलाता है।

जब वह अपने आपपर आकार धारण कर लेता है, पहले वह निराकार था, इसलिये उसे अव्यक्त कहा, अदृष्य कहा इ. और विश्व तो दिखाई देता है, उसको अनुभूत किया जा सकता है, वह इंद्रीयगम्य है, इस तो रूप है, आकार है, इसमें तो वस्तुएँ हैं। तो यह जो पहला ही शांति मंत्र है, शांति का आवाहन करने वाला मंत्र है वह कहता है कि यह जो वस्तुओं, चीजों, प्राणियों, पक्षिओं, पेड पौधों का अनंत प्रकार की विविधता का व्यक्त जगत है - उसे कृपा कर के ससीम की भाँति मत देखो, मत जानो। वह भी असीम है। सृजन का स्रोत भी असीम है, अनंत है, समग्रता है। ये दो भिन्न नहीं हैं। एक अव्यक्त है और एक व्यक्त है। एक जाना हुआ है और एक जाना हुआ नहीं है लेकिन गुणवत्ता की दृष्टि से दोनों में कुछ भी अंतर नहीं है। गुणवत्ता की दृष्टि से दोनों में कुछ भी फर्क नहीं है। मैं यह बात जोर देकर बता रही हूँ क्योंकि साधारणतया लोग यह सोचते हैं कि वेदांत के अनुसार ब्रह्मन्‍ ही सत्य है और जगत मिथ्या है, भ्रम है। हिंदू तत्वज्ञान के बारे में साधारण मान्यता है कि वे जगत को माया कहते हैं, उसे भ्रम समझते हैं। मैं इस मूल धारणापर ही चोंट लगाना चाहती हूँ। उपनिषद्‍ कहता है कि सृजन का स्रोत, अस्तित्व का आधार जिसे आप दिव्यत्व कहते हैं, जो आपके ज्ञानेंद्रियों द्वारा देखा नही जा सकता, उसे स्पर्श नहीं किया जा सकता वह असीम है, अनंत है। वह शाश्वतत्व है, वह समग्र है। वह अक्षयता है और उसीमें से जो तथा कथित दृष्य, इंद्रियगम्य है, वह आविर्भूत हुआ है। लेकिन इसमें भी वही असीमता है।*पूर्णम्‍ अदः पूर्णम्‍ इदम्‍ पूर्णात्‍ पूर्णम्‍ उदच्यते । उदच्यते*  को मैं ‘आविर्भूत होना’ ‘उभरकर आना’ के अर्थ से ले रही हूँ। जिसे आप वैश्विक जीवन कहते हैं वह अस्तित्व के आधार मे से, उस दिव्यत्व में से ही उभरकर आया है। तो यह विश्व, यह वैश्विक जीवन दिव्य है, दिव्यता है। आप विश्व को पदार्थ तथा दिव्यता को दिव्यत्व - ऐसा कर पृथक नहीं कर सकते। आप ऐसा अलग नहीं कर सकते क्योंकि जिसे आप वैश्विक जीवन कहते हैं, जिसे आप पदार्थ कहते हैं वह दिव्यत्व से ही आविर्भूत हुआ है, उभरकर आया है। कृपया इस ओर ध्यान दीजिये। यह जीवन पदार्थ में से आविर्भूत नहीं हुआ है। उपनिषद कहते हैं कि जिसे आप जीवन कहते हैं वह दिव्यत्व से ही आविर्भूत हुआ है, उभरकर आया है। जीवन दिव्य है, ईश्वरीय है।

आगे जाकर हम ‘दिव्य’ इस शब्द की गहराई में जायेंगे। लेकिन अभी के लिये यह शांति मंत्र, जो शांति के आवाहन के लिये है, मानवजाति को कह रहा है कि जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति को दिव्य तथा पवित्र ही जानो। वैश्विक जीवन से आपका संबंध पवित्रता का, शुचिता का है, आदर युक्त है क्योंकि यह भी दिव्यत्व के जितना ही ईश्वरीय है।

आज प्रातः हमने क्या सीखा? यह की जीवन को हम दिव्यत्व तथा अदिव्यत्व में विभाजित नहीं कर सकते। जीवन को मन, चेतना तथा पदार्थ में पृथक नहीं कर सकते। जीवन का विभाजन नहीं हो सकता। पदार्थ तथा चेतना में पृथकता नहीं है। वैश्विक जीवन में तथा दिव्यत्व में, ईश्वरीयता में अलगाव नहीं है। वे एकदूसरे से अलग नहीं हैं, पदार्थ तथा चेतना में पृथकत्व नहीं है। वे अलग नहीं हैं, एकदूसरे से पूर्णतया स्वतंत्र अथवा अलग नहीं है। वे एक दूसरे में शामिल हैं, लिप्त हैं। एक दूसरे में से उभरा हुआ है। कभी उभरता है और कभी तो वापस उसीमे विलीन हो जाता है। आविर्भूत होना, उभरना और पुनः विलीन हो जाना - जन्म मृत्यु का यह चक्र है। दिव्यत्व में विलीन होना यानी मृत्यु और पुनः उभरकर आना यानी जन्म। तो समग्र जीवन दिव्यत्व ही है इस समझ के साथ, इस बोध के साथ सर्वत्र शांति प्रस्थापित हो। आप के इर्दगिर्द आपको जो भी एक अणु रूप में दिखता है वह कोई नगण्य अथवा तुच्छ नहीं है। पदार्थ का अणु, पदार्थ का जिसे आप पत्थर कहते हैं उसका सूक्ष्मतम कण नगण्य अथवा तुच्छ नहीं है। वह आप से कनिष्ठ नहीं है, आप उनके मालिक नहीं हैं, आप सभी इस विश्व में रहने वाले एक दूसरे के साथी हैं, सहचर हैं। तो आपसी संबंध बोध, समझ तथा सामन्जस्य, समन्वय - से होना चाहिये। वेद तथा उपनिषद, सामन्जस्य का महाकाव्य है, महायात्रा है। हमारे जीने का उद्देश्य, जीने की गुणवत्ता तथा संबंधों का आधार सामन्जस्य होना चाहिये। वेद तथा उपनिषद्‍ - संबंधों में सामन्जस्य कैसे अनुस्यूत हो इसका गीत हैं।

तो प्रथम मंत्र कहता है, देखो, इस जीवन को पदार्थ तथा दिव्यत्व में विभाजित न करें। वह सत्य है और यह भास है, मिथ्या है ऐसा विभाजन न करें। नहीं नहीं - यह जो अस्तित्व का आधार है वह अस्तित्व की गुणवत्ता में व्याप्त है। स्रोत की गुणवत्ता जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति में समायी हुई है, अनुस्यूत है। इसीलिये यह जो भी आप अपने आसपास देखते हैं एक घाँस के पत्ते से लेकर हाथी या ऊँट या मानव तक सभी पूर्ण ही है। सभी में वही दिव्यत्व भरा हुआ है। अभिव्यक्ति भले ही सीमित हो लेकिन गुणवत्ता वही है। पदार्थ,चैतन्य की एक ससीम अभिव्यक्ति है। पदार्थ चैतन्य की संस्कारित अभिव्यक्ति है। लेकिन वह चैतन्य ही है।

\*\*\*\*

द्वितीय दिवस.

*ॐ पूर्णम्‍ अदः पूर्णम्‍ इदम्‍ पूर्णात्‍ पूर्णम्‍ उदच्यते ।*

*पूर्णस्य पूर्णम्‍ आदाय पूर्णम्‍ एव अवशिष्यते ॥*

*ॐ शान्तिः शांतिः शांतिः*

लाखों करोडों वर्षों से अव्यक्त व्यक्त होने लगा है। पेड पौधे जनमते हैं, नदियाँ बहती हैं, सागर हैं, ऋतुचक्र चल रहा है। कितने राष्ट्र अस्तित्व में आये, कितने विश्व उत्पन्न हुए, उनका विस्फोट हुआ, वे तबाह हो गये और फिर भी जीवन का यह अनंत चक्र चलता ही रहता है। अस्तित्व का व्यक्त होना, स्वयं को अभिव्यक्त होने की प्रक्रिया, स्वयं का अनावरण, प्रकटन चलता रहता है। अगर इस विश्व का विनाश हो गया तो ऐसा न सोचिंये कि अनंतता ने कुछ खो दिया है। दूसरा विश्व उभरकर आयेगा। उत्पत्ति तथा विलय एक दूसरे से अभिन्न संबंध बनाये हुए रहते हैं। ये कोई दो भिन्न घटनाएँ नहीं हैं। विनाश कोई घाटा या नुकसान नहीं है। मैं मानव द्वारा किये गये विनाश के बारे में नहीं कह रही हूँ। मैं हिंसा के बारे में नहीं कह रही हूँ। मैं सर्जन के नियम के बारे में कह रही हूँ - जन्म, विकास, विघटन एवम्‍ मृत्यु - वह जो कि प्रकृति के स्वाभाविक नियम हैं। कितने ही बार सृजन घटित हुआ है और इसके उपरांत भी वह जो अनंतता है, अस्तित्व का आधार या दिव्यत्व है वह कभी खतम नहीं होता, निःशेषित नहीं होता। एक विश्व उभरकर आता है फिर वह विलीन हो जाता है। फिर दूसरा विश्व अभिव्यक्त होता है। इस तरह जीवन की अनंतता में से अनेक विश्व उभरकर आते रहे हैं। आपमे से जिसे भी रूचि हो तो वे यहाँ की लायब्ररी में से मॉरिस निकोल, निकोल या निकोलस जो भी हो उनकी लिखी हुई पुस्तक पढने के लिये ले सकते हैं। वे विश्व की उत्पत्ति के बारे में, रिक्तता के शून्य में से अनंत विश्वों की उत्पत्ति के बारे में लिखते हैं। वे कहते हैं कि भौतिक शास्त्र में सृजन के बारे में, आधुनिकतम या अंतिम जो भी कहा गया है वह इस प्रकार है- सृजन का स्रोत शून्य है और वह शून्यता विश्वों में विस्फोटित होती है - यह अनंत काल से चलता आ रहा है।

यह केवल एक प्रस्तावना है, आगे कैसे बढा जाय इस बारे में आपको ही मुझे बताना होगा अगर आपको यह सब बहुत अमूर्त लग रहा हो तो हम हमारा तरीका बदल सकते हैं। लेकिन मुझे आपको इस प्राचीन देश में, वेदो के काल में ले जाना था। उस समय की काव्यात्मक अभिव्यक्ति, वैसे ही गुरू-शिष्य के बीच का संवाद, उसका सृजन के स्रोत के बारे में जो कहना है, सृजन की रीति तथा स्वभाव, इस सृजन में मानव की भूमिका तथा मानवजाति का सृजन से संबंध क्या है यह सब आप के साथ बाँटना था।

अगर हम यहाँ सुबह का सत्र समाप्त कर रहे हैं तो आगे की बातें दोपहर के सत्र में फिर आगे बढाएँगे। मैं मेरे भारतियेतर मित्रों से बातें कर रही हूँ। इसकारण हमारे प्राचीन ऋषिमुनियों की परिपूर्णताका संबंध में आज के भौतिक शास्त्र के आधुनिकतम अनुसंधानों से भी करूंगी। जो हजारों वर्ष पूर्व कहा तथा लिखा गया था उसे आज भौतिक शास्त्र कैसे गौरवान्वित कर रहा है। बहुत कठिन लगता है क्या? नही जी, मुझे आनन्द लग रहा है।

अन्वेषण में संपूर्ण कारण रहित स्वातंत्र्य । उस समय किसी भी मजहब का अस्तित्व नहीं था। न कोई संस्थापित आचार संहिता, रूढी, संप्रदाय, कर्तव्य - अकर्तव्य भावना थी। कोई संस्थापित अन्वेषण, प्रस्थापित विचारधारा अथवा सख्त निष्कर्ष नहीं हुआ करते थे। वेद तथा उपनिषद्‍ काल की यह एक अनोखी खासियत थी।

जैसे आज के प्रातः के सत्र में कहा गया था कि वह काल, वह युग जीवंत शब्दों का था, गुरु शिष्य के बीच संवाद का काल था। लेकिन वह गुरु-शिष्य संवाद भी कोई संस्थागत या विधि गत नहीं था। वह व्यवस्थापित नहीं हुआ करता था। शिष्य पर कोई आचार संहिता लागू नहीं होती थी और गुरू में भी अधिकार भाव नहीं होता था। वह धर्म अथवा मजहब के पूर्व का काल मानवजाति के लिये बडा ही रोमांचक था और इतिहास के दृष्टि से बडा ही अधिप्रमाणित तथा विशुद्ध था। बारह वर्ष की आयु में ही शायद मैंने उपनिषद्‍ अपने आप से ही पढना शुरू कर दिये थे। तब दरसल मुझे संस्कृत भाषा भी नहीं समझती थी। गुरू-शिष्य के दर्मियाँ स्नेहपूर्ण, आदरयुक्त, प्रेम, लगाव तथा जो संपूर्ण स्वातंत्र्य का भाव था उसने तथा साथ ही अपना अनुभव शिष्य पर बिना थोपे, उसे अपने निष्कर्षों से संस्कारित किये बगैर शिष्य को केवल उसे अपने आपसे समझने में सहायक होने की गुरू की जो भूमिका थी, उसने मुझे सबसे अधिक आकर्षित किया।

किसी उपनिषद्‍ में एक कहानी आती है जिसमें एक बालक गुरू के पास जाता है और उनसे पूछता है, “क्या इस सृजन की रीति तथा स्वभाव क्या है यह आप मुझे सिखाएँगे? मेरे गुरुजी, इस जीवन का अर्थ क्या है, सत्य का स्वरूप क्या है - यह कृपा कर आप मुझे बतलाएँगे?” इस पर गुरूजी कहते हैं, “मुझे बहुत ही अच्छा लगेगा तुम्हे यह बतलाना। लेकिन देखो, मेरी ये २०० गाये हैं” उन दिनों वे लोग अरण्यों में रहते थे। एक प्रकार की आरण्य संस्कृति थी। वेद एवम्‍ उपनिषद्‍ के काल में नदी के किनारे, अरण्यों में, पहाडियों पर, गुफाओं में रहा जाता था। एक सर्वथा भिन्न प्रकार का जीवन होता था। वही जीने का तरीका था।

तो गुरूजी कहते हैं, “ क्या तुम इन सब २०० गायों को यहाँ से दूर कहीं ले जाकर, मैं जहाँ हूँ वहां से दूर घने जंगल में अंदर जाकर तुम्हारे रहने योग्य एक अच्छी जगह ढूँढ कर वहाँ इन २०० गायों की १००० गायें हो जाए तब तक रह सकते हो? जब २०० की १००० गाये हो रही हो तब तुम्हारे आसपास जो भी घटित हो रहा हो उसे तुम्हे देखना होगा, परखना होगा। १००० गाये लेकर वापस आना। उसके बाद हम तुम्हें जो सीखना है उसके बारे में देखेंगे।” और इसप्रकार बालक उन २०० कमजोर गायों को लेकर कैसे अपने गुरू वाणी में पूर्ण विश्वास रखते हुए जंगल में जाता है और गायों की सेवा करते हुए, उनको दोहते हुए अकेला रहता है। इसके साथ उसे आसपास जो भी घटित हो रहा है उसे देखना है, निसर्ग से सीखना है। यह सब बताते हुए उपनिषद्‍ आगे बढता है। इस प्रकार वह सूरज की चाँद सितारों की गति, नदियाँ, गायों की हलचल उनकी गति, उनकी बुद्धिमत्ता जो अभिव्यक्त होती है, पेड, पौधे इ. सभी का निरिक्षण करता है।

उसे निरीक्षण करते हुए सीखना पडता था ऐसा बताते हुए उपनिषद्‍ आगे बढता है। जब वह युवक १००० गायों को लेकर अपने गुरू के पास उनकी कुटिया में लौटता है तब उसके मुखमण्डल बोध की, ज्ञान की आभा से दमकता दिखाई देता है। वह आनन्दित दिखता है, उसका मुख चमकता हुआ दिखता है और उसकी निगाहें आंतर तृप्ति तथा आनंद से परिपूर्ण दिखती हैं। और इस अवस्था में वह गुरू के सन्मुख खडा हो जाता है तो गुरू कहते हैं अभिनंदन है तुम्हारा, तुअ अपने आप से सब कुछ सीख गये।

इस प्रकार की कई कहानियाँ मिलेंगी आपको जिनमें गुरू अपने शिष्य को केवल एक या दो निर्देश देकर अपने स्वयं के साथ रहकर सीखने के लिये, अन्वेषण करने के लिये छोडने का धैर्य रखते थे। फिर वह युवक अपने गुरु के समीप बैठता है। गुरु थे ऋषि गौतम और उस युवक का नाम था भृगु। गुरु कहते हैं, “अब मैं बताता हूँ तुमने क्या क्या खोजा है। जो प्रकाश सूरज में है वही प्रकाश तुम्हारे भीतर भी है, क्या यह तुमने सूरज को देख कर नहीं समझा? तुम्हारे अंदर जो प्रकाश है वही प्रकाश तुम्हारे आँखों की ज्योति है? तो जो प्रकाश सूरज में है और जो प्रकाश तुम्हारे भीतर भी है वे दोनों एक ही हैं? क्या तुमन यहीं नहीं खोजा?”

आगे वे कहते हैं, “ तुमने रात को चन्द्रमाकी ओर देख कर उसमें से झरते अमृत का पान करते हुए यह नहीं समझा की यही अमृत जो कि चन्द्रमां मे है तथा उसकी किरणॊं में है वही तुम्हारे भीतर भी है?”

मैं उस उपनिषद्‍ को और आगे नहीं बढाऊंगी, बहुत ही काव्यात्मक तरीका है सिखाने का तथा जो शिष्य ने सीख लिया है उसकी पुष्टि करने का। इसके उपरांत गुरू शिष्य से कहते हैं आज से तुम और मैं एक समान हो गये, बराबर के हो गये।

तो यह तरीका था शिखाने का। जो अधिकार रहित सिखाने का दृष्टिकोण था जिसमे जो गुरू शिष्य में पूर्ण स्वातंत्र रहता था,निःसंदेह ही उनमे प्रेम तथा आदर का भाव रहता था उसीने मुझे अत्यंत आकर्षित किया। जोर सिखाने पर नहीं रहता था, जोर हुआ करता था सीखने में सहायक बने रहने पर और उन ऋषि मुनियों में वैसे ही शिष्यों में भी, सीखना कभी खतम नहीं हुआ। गुरू शिष्य के आत्मसाक्षात्कार की पुष्टी करते हुए कहते हैं कि अब तुम अपने आपमें समर्थ हो और शिष्य को आशीर्वाद देते हुए विदा करते हैं। इस प्रकार वह शिष्य जंगल में कहीं और जाकर बसता है, शिक्षक बन कर रहता है, गुरू बन जाता है। जैसे वह गुरू के पास गया था वैसे ही, उसके पास भी शिष्य आते हैं और इस प्रकार सीखने में सहायता करने का चक्र चलता रहता है। यह बहुत ही अद्‍भुत बात है।

उपनिषदों के बारे में मुझे दूसरी बात ने आकर्षित किया वह यह है कि उनका सारा जोर जीवन के सत्य, वास्तव, उसकी समग्रता, पूर्णत्व तथा समन्वय के ऊपर है। सत्य के स्वरूप की खोज हैं उपनिषद्‍। उनका ताल्लुक है समझने की, बूझने की तथा आपके चिंतन की प्रक्रिया से। उनका संबंध है आपके भौतिक तथा मानसिक संरचना की परिशुद्धि से। उनको आपके निष्कर्षों से कुछ लेना देना नहीं है। उन्हें तो आपमें, आपकी जीवंतता में क्या घटित होता है यह देखना है क्योंकि सभी निष्कर्ष तो संभवित हैं, अनुमानित हैं। जैसे मानवजाति की उन्नति होगी, उत्क्रांति होगी तो हो सकता है कि निष्कर्ष बदल जायेंगे। वे भिन्न भाषा के लिबास में आयेंगे। लेकिन परिशुद्धि तथा सीखने के दौरान जिज्ञासू के भीतर क्या घटित होता है तथा उसके अनुसंधान की गुणवत्ता क्या है ये बातें सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं।

तो यह जीवन की एकात्मता का महत्व, उस पर दिया गया जोर तथा आपकी समस्त ऊर्जाओं को जीवन के अंतिम सत्य की खोज की ओर केंद्रित करना यही अहम्‍ बात है। फिर आपके देवी देवता, मंदिर, मस्जिद, रूढी, परंपरा और आप कैसे पूजा पाठ करते हैं, कैसे तथा किन पंडितों से देवालय बनवाते हैं, इसकी उपनिषदकारों को जरा भी चिंता नहीं है। यह सब बाद में आया है। यह संप्रदायों की स्थापना, मानवीय रहन सहन का संस्थानीकरण और उसकी आड में धर्म गुरुओं द्वारा शोषण, मानव को मानसिक स्वतंत्रता से वंचित रखना इ. इ. यह सभी बहुत बाद में आता है। लेकिन यह मानव जाति सीखने की प्रक्रिया के दौरान इस प्रकार के निर्हेतुक स्वतंत्रता के काल से गुजरी है यह बात भी अत्यंत अद्‍भुत / आश्चर्य जनक है। और यह सब मानव की चेतना में घटित हुआ चाहे वह भारत में हो, या नॉर्वे में हो या फिर अर्जेन्टिना अथवा पोलंड में हो, इससे कुछ भी फरक नहीं पडता। भारत की भौगोलिक भूमी महत्व नहीं रखती। लेकिन यह मानव जाति के साथ घटित हो सका, इसका मतलब है कि मानव जाति में वह पुनः घटित होने की संभावना विराजित है, स्वयं के लिये सत्य की खोज करने हेतु, अन्वेषण हेतु संपूर्ण स्वतंत्रता संभव है !

क्या मैं एक और कहानी का उल्लेख कर सकती हूँ? ये सब कहानिया भिन्न भिन्न उपनिषदों में आती हैं। एक शिष्य आकर अपने गुरू से आकर कहता है कि मैं आपके पास सीखने के लिये आया हूँ। जीवन का सार तत्व क्या है यह मुझे खोजना है। तो गुरू कहते हैं, हाँ, क्यों नहीं। ऐसा करो कि अगले चार दिनों के लिये तुम कुछ भी अन्न ग्रहण ना करो। क्या हम बिना अन्न के रह सकते हैं, इस बात को हम दोनों मिल कर खोजने का प्रयास करते हैं। वे दोनों गुरूशिष्य चार दिनों तक बिना कुछ खाये पूर्ण उपवास करते हैं। शिष्य बहुत कमजोर हो जाता है।चौथे दिन वह कहता है, अन्नं ब्रह्म। वह गुरू से कहता है, अब मई यह खोज पाया कि अन्न ही अंतिम सत्य है। वही सार तत्व है। मैंने चार दिनों तक कुछ खाया नहीं तो मैं अब चल नहीं सकता, सो नहीं सकता, मेरा दिमाग भी कुछ काम नहीं कर सकता। ऐसा लगता है कि अन्न ही ब्रह्म है।

गुरू नें कहा ठीक है, अब खाना खाओ लेकिन अब अगले चार दिनों के लिये बिलकुल भी विचार मत करो। पूरे निर्विचार। अगले दिन वह शिष्य आकर कहता है बिना विचार किये तो जीया ही नहीं जा सकता। कल जो मैंने कहा था वह गलत था। मनं ही सबका सार तत्व है क्योंकि बिना विचार के तो जीया ही नहीं जा सकता। गुरू कहते हैं, अच्छा, अब हम श्वास के बिना रह सकते हैं क्या यह देखें? कुछ समय के लिये प्रयोग करके देखते हैं। शिष्य कहता है, नहीं गुरुदेव, बिना श्वास के तो रह ही नहीं सकते। प्राण ही तो जीवन की ऊर्जा है, शक्ति है तो वही ब्रह्म है। अन्नं ब्रह्म, मनस्‍ ब्रह्म, प्राण ब्रह्म... इसप्रकार गुरू अपने शिष्य को सत्य की ओर बढने हेतु अनुक्रम, श्रेणीक्रम समझने में सहायता करते हैं। वे उस पर थोपते नहीं हैं कि - यह ब्रह्म है। सत्‍, चित्‍, आनन्द ब्रह्म है। वे ब्रह्म की व्याख्या नहीं बता देते। प्राचीन गुरूओं ने कभी भी निष्कर्ष नहीं बताया, यह बात बहुत ही विस्मयकारी तथा आकर्षक लगती है। अगर आप उनके पास कुछ उलझन अथवा मसला लेकर जाए तो वे कभी भी तैयार हल नहीं देंगे। उनका कहना था कि हल बता देना या परिभाषा बता देना आपकी खोज का, अनुसंधान का दमन करना हो जायेगा। ऐसा करने से आप सामने वाले की बुद्धि का दमन करते है, गला घोंटते हैं। कुछ संकेत अथवा सुझाव दीजिये, सहारा दीजिये, साथ में रहिये लेकिन खोज को, सामने वाले में घटित होने दीजिये। इससे वह उसकी अपनी खोज होगी, उसकी स्वयं की अमानत होगी। चूँकि आप योग के विद्यार्थि हैं, और योग एक आधिकार-रहित दृष्टिकोण है सत्य तथा वास्तविकता को जानने का। मैं उपनिषदों में उल्लेखित योग की बुनियाद पर जोर दे रही हूँ। योग तो भगवान का नाम तक नहीं लेता है। वह तो परिशुद्धि की प्रक्रिया तथा शिक्षा से प्रारंभ करता है और आत्मसाक्षात्कार अथवा उद्बोधन को परिशुद्धि का उपफल अथवा सहज उपपत्ति बता ता है। जब तक उपनिषदों में बताई हुई योग की बुनियादी समझ नहीं है तब तक योग का दृष्टिकोण समझने के लिये कुछ कठिन ही है।

तो अब हम आगे बढते हैं, गुरु शिष्य का संवाद अभी शुरू नहीं हुआ है। हम शांतिपाठ देख रहे हैं।

*ॐ पूर्णम्‍ अदः पूर्णम्‍ इदम्‍ पूर्णात्‍ पूर्णम्‍ उदच्यते।*

*पूर्णस्य पूर्णम्‍ आदाय पूर्णम्‍ एव अवशिष्यते॥*

*ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः*

आज के प्रातःकालीन सत्र में हमने देखा कि काल तथा अवकाश से सीमित, जड रूप से सीमित, इस सांत विश्व में भी अव्यक्त विश्व की तरह अनन्तता है। अब हम इसकी थोडी गहराई में जायेंगे।

अणु का आकार अत्यंत सूक्ष्म है और प्रोटॉन तथा इलेक्ट्रॉन और भी सूक्ष्म। उनकी तुलना इस समूचे ब्रह्माण्ड से कैसे की जा सकती है? आकार, रूप अथवा रंग, किसी भी मायने से नहीं। ये सब परिवर्तनशील हैं लेकिन पदार्थ अथवा अणु के इस परिवर्तनशील तथा भिन्नत्व में एक अपरिवतनशील तथा अभिन्न ऊर्जा समायी हुई है। अस्तित्व के आधार की अनन्तता, सृजन के स्रोत की अनन्तता अणु में, इलेक्ट्रॉन तथा प्रोटॉन में ऊर्जा के रूप में प्रेषित होती है। यही वजह है कि इतने नन्हेंसे अणु में जो ऊर्जा की मात्रा होती है उसे अणु के भार के संदर्भ में तर्क अथवा गणित की सहायता से नहीं आँका जा सकता। पदार्थ के अणु के भार, वजन, रूप अथवा आकार से उसका कोई भी संबंध नहीं होता है।

अव्यक्त जगत के समग्रता की अनन्तता एक प्रकाश किरण फेंकती है ठीक उसी तरह जैसे कि सूरज अपनी एक किरण फेंकता है। वही ऊर्जा है जो कि पदार्थ के अणु में समायी हुई है। तो अब अनन्तता ने ऊर्जा का रूप धारण कर लिया है। अनगिनत भिन्न भिन्न ऊर्जाएँ, या कहिये व्यक्त का सार ! अणु में समायी हुई ऊर्जा समग्रता की ऊर्जा की तरह ही अक्षय है। मैं आपको ‘*अदः पूर्णम्‍ इदम्‍ पूर्णम्‍’*  क्यों कहा गया है यह समझाने का प्रयास कर रही हूँ। उदाहरण के तौर पर एक तृण पाती में जो जीवन की गुणवत्ता है, उसका हरापन, उसकी तैलवत्‍ चमक, ताजगी यह सभी जीवन के गुणधर्म हैं। उन कंपनों की गुणविशेषता, जीवन का सौहार्द्र, उसकी आभा, अगर आप मुझे इजाजत दें तो मैं कहूँगी कि यही सब जो उस तृण पाती में जो महसूस हो रहा है वह मानव में, चाँद और सूरज में, सूर्य मालिका में, अदृश्य में, अव्यक्त तथा अनाकलनीय में भी - वह ही है। तो एक अव्यक्त है, अवकाश का खालीपन है जिसे उपनिषद्‍ आकाश कहते हैं। तो आकाश अवकाश है, अथाह, अनन्त अवकाश, इस अवकाश को क्षितिज नहीं है, आशय नहीं है, इसे न तो तल है और न ही आच्छादन है। यह बस खाली पन है, रिक्तता है जिसने कि विश्व को, ब्रह्माण्डों को एकत्रित धारण किया हुआ है।

तो यह रिक्तता, खालीपन ऊर्जाओं से भरा पडा है और एक तृण पाती भी ऊर्जाओं से भरी है। यहाँ पर परम तत्व संस्कारित है, ससीम बन गया है रूप, काल तथा अवकाश की वजह से। यह वही परम तत्व है, वही दिव्यत्व है, केवल अवकाश तथा काल से संस्कारित है, रूप से संस्कारित है। क्या मैं इसे सघनता का दृष्टि भ्रम कह सकती हूँ जो कि किसी वस्तु के रूप का आकार गहण किया, घन वस्तु के रूप में दीखता है? आप जानते हैं भौतिक शास्त्र क्या कहता है- वस्तु दरसल ऊर्जा ही है, पदार्थ घनीभूत ऊर्जा है। अनन्त ऊर्जाओं की आपसी प्रक्रिया की विभिन्नता ही द्रव्य के भिन्न भिन्न आकारों का वास्तविक कारण है। लेकिन पदार्थ वस्तुतः पदार्थ नहीं है वह तो ऊर्जा ही है, घनीभूत, अस्पष्ट, धुंधली, कंपनशील ऊर्जा। भौतिक शास्त्र यह बात कहता है और उपनिषद्‍ भी यही कहता है, जब यह दिखलाई नहीं देती, अव्यक्त है तब इसी दिव्यत्व का उल्लेख करते हैं और यही जब व्यक्त है तब विश्व के रूप में सन्मुख है- *‘पूर्णम्‍ अदः पूर्णम्‍ इदम्‍ पूर्णात्‍ पूर्णम्‍ उदच्यते’* – इसी रिक्तता के गर्भ से, खालीपन से जिसमें ऊर्जाएँ समाई हुई हैं, विभिन्न प्रकार की ऊर्जाओं के रूप में एक विश्व उभरता है जिसमें विभिन्न रूपों में ऊर्जा व्यक्त होती है। तो आज के प्रातःकालीन सत्र में हमने व्यक्त तथा अव्यक्त की एकात्मता को, पदार्थ तथा चेतना की एकात्मता को देखा। अगर मैं आधुनिक भाषा में कहूँ – सापेक्ष तथा निरपेक्ष, परम - जगत की एकात्मता, ज्ञात तथा अज्ञेय की एकात्मता, संस्कारित तथा संस्काररहित की एकात्मता। संस्कारित से मतलब है केवल सीमित, और कुछ नहीं। हमारे प्राचीन ऋषियों को संस्कारित, संस्काररहित, सापेक्ष, निरपेक्ष - इन शब्दों से भला क्या लेना देना था? उन्हें तो भौतिक शरीर जिसमें आप निवास करते हैं उसकी महत्ता तथा पावित्र्य का, महत्व बतलाना था। आपके परिवेश की पवित्रता, आपके अंदर जो जीवन बसा हुआ है उसकी पवित्रता का महत्व था।

शरीर बंधन नहीं है। यह जो भौतिक जगत जिसे आप अपने इर्दगिर्द देखते हैं वह बंधन नहीं है। सत्य की ओर देखने का एक बिलकुल नया तरीका। यह शरीर एक साधन है जीवन के तत्व को तथा आपके आसपास के जगत, जिसे आप भौतिक जगत कहते हैं और जो आपको इस तत्व से जुडने का अवसर देता है, उसको जानने का। तो यह शरीर बन्धन नहीं है, भौतिक जगत बन्धन नहीं है। पूरे विश्व में, पूरे जीवन में बन्धन जैसा कुछ भी नहीं है। आज की आध्यात्मिक खोज को ‘बन्धन का सम्पूर्ण इनकार’ आशय देता है और वास्तव में आज हम उसे ही सराहते हैं। हम सोचते हैं कि आध्यात्म एक यात्रा है बन्धन से मुक्ति की ओर । हम आज यहाँ बन्धन में हैं और उस बन्धन को आज हम उखाड फेकेंगे और फिर मुक्ति की ओर आगे बढेंगे। आज हमारी यह समझ है। हमारी आज की यह समझ है। मैं आज आपको यह कहना चाहती हूँ, यह बताना चाहती हूँ कि प्राचीन काल में यह धारणा नहीं थी। कुछ भी बान्धता नहीं है - यह समझ थी। अगर सभी उस मूलभूत सत्य में से ही उभरा हुआ है तो आपको कुछ भी उस मूलभूत सत्य से दूर कैसे ले जायेगा? अगर वह स्वयं दिव्यत्व ही उभरकर आया है, तो कैसे भला कुछ भी आपको उस तत्व में अथवा दिव्यत्व में रहने से रोक सकता है? अगर आप चाहोगे तो वह आपकी सहायता करेगा, आपकी समर्थ करेगा लेकिन वह बन्धन कैसे होगा?

देखिये पौर्वात्य तथा पाश्चिमात्य तत्वज्ञान की कई धारणाएँ हैं। हम यहाँ, प्लूटो, प्लोटिनस, सोक्रेटिस, एरिस्टॉटल इ. की तुलना नहीं कर रहे हैं। उनसे लेकर एखार्ट तथा सार्ते तक फिर यहाँ के वेद उपनिषद्‍ से लेकर भारतीय तत्वज्ञान की विभिन्न शाखाओं का, पौर्वात्य तथा पाश्चिमात्य तत्वज्ञान का तौलनिक अभ्यास बहुत रूचि पूर्ण है, किंतु हम वह सब यहाँ एकसाथ हैं तब नहीं कर रहे हैं। लेकिन वे सभी किसी भी प्रकार के बन्धन के अस्तित्व का निषेध ही करते हैं, वे अपूणता के अस्तित्व को नकारते हैं। जो भी सांत है वह जरा भी अपूर्ण या दोषपूर्ण नहीं है। जो सांत है वह ससीम है किंतु अपवित्र नहीं है। रोसाना क्या आप मेरी बात समझ पायी?

“हाँ।”

अनुसन्गी आप?

“ नहीं”